सिनेमा जगत और हिंदी साहित्य का अन्तर्संबंध

[1]डॉ0 राजेश कुमार*, [2]ज्योत्स्ना

असिस्टेंट प्रोफेसर (हिंदी विभाग), राजकीय महाविद्यालय, बी०बी० नगर (बुलन्दशहर)
शोधार्थिनी, हिंदी विभाग, चौ० चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ
***Email ID**: dr.rajesh.thakur05@gmail.com*

Accepted: 07.06.2023 **Published**: 01.07.2023

मुख्य शब्दः सिनेमा जगत ।

शोध आलेख सार

सिनेमा हमारे समय का एक भावाभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। इसे सिर्फ मनोरंजन का माध्यम मानना न तो पर्याप्त है और न ही उचित सिनेमा के माध्यम से कहानी दिखाने और कहने की जिस कला का विकास हुआ है। उससे न सिर्फ हमारी वर्तमान दुनिया को भी प्रस्तुत करना संभव बनाया है। फिल्म देखते हुए दर्शक गण सिर्फ अपना मन ही नहीं बहलाते बल्कि अपने समय और समाज को वर्तमान समस्याओं और उनके निदान के उपाय भी अपने साथ वापस लेकर जाते हैं।

पहचान निशान

**Corresponding Author*

© *IJRTS Takshila Foundation,* डॉ0 राजेश कुमार, *All Rights Reserved.*

परिचय

हम कह सकते हैं कि कला वही सम्पूर्ण होती है जिससे जनता का लगाव और जुड़ाव होता है अर्थात् जिस कला में मानव जीवन को अभिव्यक्त करने की क्षमता न हो वह कला उपयोगी नहीं हो सकती कला की अपनी पहचान मानव जीवन से जुड़ी होती है क्योंकि मनुष्य कला का निर्माण और अभिनय मनुष्य के लिए ही करता है। प्रहलाद अग्रवाल अपनी 'वसुधा' पत्रिका में कहते हैं– **"कला जनता की चीज है। कला ऐसी होनी चाहिए जिसे आम जनता की संवेदनाओं, विचारों एवं इच्छाओं से जोड़ना और उद्वेलित करना चाहिए इसे जनता के अंदर की कलात्मक सहजवृत्तियों को उद्वेलित तथा विकसित करना चाहिए।"**[i]

साहित्य में फिल्म एक ऐसी विधा है जहाँ सम्प्रेषण उसके रचना कौशल के साथ चीनी और पानी की तरह घुला मिला है। दूसरी विधाओं के लिखने वाले आत्मगत् होकर भी कुछ लिख सकते हैं। सिनेमा कला का अद्भुत व आधुनिक रूप है। सिनेमा एक ऐसा संगम है जिसमें सभी कलाओं का समावेश हो जाता है।

दादा साहब फाल्के जो भारतीय सिनेमा के जनक कहे जाते हैं, कई कलाओं के ज्ञाता थे। सिनेमा के माध्यम से वे सभी कलाओं का समन्वय व प्रस्तुतिकरण एक साथ कर सकते थे, शायद इसलिए 'सिनेमा' से वे इतने प्रभावित हुए। हिंदी सिनेमा के जनक दुंडिराज गोविन्द फाल्के (दादा साहब फाल्के नाम से जाने जाते हैं) से लेकर धीरेन्द्रनाथ गांगुली, बाबूराम पेंटर, हिमांशु राय, विमलराय आदि अधिकतर फिल्म बनाने वाले अहिंदी भाषी प्रदेशों से थे। सभी ने समाज और राष्ट्र प्रेम की भावना से प्रेरित होकर न केवल हिंदुस्तानी के निकट भाषाओं को फिल्मों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया अपितु अपनी फिल्मों की कहानी के विषय आम जिंदगी से चुने, जो इस देश की संस्कृति, गंध और स्थितियों को चित्रित करता था। भारत में सिनेमा के सौ बरस से ज्यादा हो चुके हैं किसी विधा के तौर पर सिनेमा ने इतना सफर तय कर लिया है कि एक विधा के तौर पर उसकी व्यापक व्याख्या की जा सकती है और की भी जानी चाहिए। पिछले अनेक दशकों से कई पीढ़ियाँ सिनेमा में सक्रिय रहीं। उन्होंने अपने–अपने तरीके से सिनेमा को गढ़ा और बुना है। उन्होंने सिनेमा के भीतर वह हुनर पैदा किया जो एक सभ्यता के भीतर दाखिल हो सके हमारी जीवन शैली का हिस्सा बन सके। सिनेमा के अन्दर समाज की छवि प्रतिबिम्ब होती है, उसमें हजारों साल का अपना समाज कई रूपों में प्रतिबिम्बित होता है।

रामवृक्ष बेनीपुरी के शब्दों में **''सिनेमा आधुनिक विज्ञान का वरदान है, जो सस्ता मनोरंजन देता है। दिन–भर की दौड़–धूप, मेहनत–मशक्कत से परेशान इंसान शाम को दिलचस्पी का कोई सामान खोजता है। उसे ऐसा ही मनोरंजन चाहिए, जो कम से कम पैसों से प्राप्त हो सके, सब जगह प्राप्त हो सके और जिसके अपनाने में अँगुली भी न उठाई जाए। सिनेमा इन सभी शर्तों को पूरा करता है इसलिए यह इतना लोकप्रिय है।''**[ii] हिंदी सिनेमा ने हमेशा भारतीय जनमानस को बहुत प्रभावित किया है– **''फिल्म की तरह कोई और कला हमारे अंतरमन तक नहीं जाती और ये सीधे हमारी भावनाओं तक जाती है। बिल्कुल गहरे, हमारी आत्माओं के अंधेरे कमरों तक।''**[iii] **(इंग्मर वर्गमैन)**

नाट्य शास्त्र में भरतमुनि ने कहा कि ''ऐसा कोई ज्ञान नहीं, शिल्प नहीं, विधा नहीं, कला नहीं, योग और कर्म नहीं, जो नाटक में नहीं।'' इसी आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि सिनेमा एक ऐसी कला है, जिसमें ज्ञान, विज्ञान, कला और वाणिज्य सबका संगम हो जाता है। भारतीय समाज असल में देश न होकर भिन्न–भिन्न संस्कृतियों, बोलियों, मान्यताओं और सभ्यताओं का ऐसा गुजार है। इन सब विविधताओं को समन्वय करने के लिए भावनात्मक बोध अनिवार्य होता है। बंगाल इस बात में अग्रणी था। हिंदी फिल्मों में यह कमाल बंगाल ने ही दिखाया था कि उसने साहित्य को सिनेमा के लिए चुना और अपने कथा साहित्य

के दम पर देवदास, अनुपमा, दो बीघा जैसी अमर फिल्मों का जन्म हुआ। हिंदी फिल्मों के जनक माने जाने वाले दादा साहेब फाल्के की पहली मूक फीचर फिल्म 'राजा हरिश्चन्द्र' 3 मई, 1913 को रिलीज हुई। राजा हरिश्चन्द्र का पूरे देश में जोर–शोर से स्वागत किया गया। 1910 से 1920 तक के समय में मूक फिल्मों की भरमार रही जिनमें राजा हरिश्चन्द्र, सत्यवान सावित्री, माया बाजार, नूरजहाँ इत्यादि।

शुरुआती दौर की फिल्में पौराणिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित होती थीं इसका उद्देश्य था कि दर्शकों को लोककथाओं और इतिहास के प्रति एक विशेष झुकाव था। इसी समय भारत और ब्रिटेन के द्वारा पहली बार परस्पर सहयोग से एक मूक फिल्म 'पुंडलिक' का निर्माण किया गया था। जिसका निर्माण कार्य एन०जी० चित्रे और आर०जी० टर्नी ने किया था। 'कोहिनूर फिल्म कंपनी' और दादा साहब फाल्के की 'हिन्दुस्तान सिनेमा फिल्मस कंपनी' इन कंपनियों के आरम्भ होने में फिल्म निर्माता को प्रोत्साहन और बढ़ गया। जैसे ही फिल्मों से अच्छी कमाई प्रारम्भ हुई वैसे ही सरकार ने वर्ष 1922 में कोलकाता में मनोरंजन 'कर' लगा दिया। 1923 में यह 'कर' मुंबई में भी लगाया गया।

विश्व का पहला स्टूडियो **फ्रांसीसी इंजीनियर लेयॉन गॉमोट** ने स्थापित किया था। इस प्रकार फ्रांस ने विश्व सिनेमा के जनक के रूप में अपना सिरमौर बनाए रखा।

हरिश्चन्द्र भटवाडेकर (दादा) ने ही भारतीय सिनेमा जगत् में पहली बोलती फिल्म 14 मार्च 1931 में **'आलमआरा'** उतारी। इम फिल्म का निर्देशन अर्देशिर एम० ईरानी ने किया था। अर्देशिर ने 1929 में हॉलीवुड की एक बोलती फिल्म 'शो बोट' देखी और उनके मन मे बोलती फिल्म बनाने की इच्छा जगी। फिल्म के नाम में बेहद गहरा अर्थ छुपा हुआ है। इस फिल्म के नाम का तात्पर्य है 'विश्व की रोशनी' इस फिल्म का पहला शो मुम्बई के मैजस्ट्रिक सिनेमा में हुआ। ये फिल्म इतनी लोकप्रिय हुई की कि भीड़ को नियंत्रित करने के लिए पुलिस का सहारा लेना पड़ा। जब पहली बोलती फिल्म प्रदर्शित हुई तो उसके पोस्टरों पर लिखा था– **"वे सभी सजीव है, साँस ले रहे हैं, शत्–प्रतिशत् बोल रहे हैं, अठहत्तर मुर्दा इंसान जिंदा हो गए, उनको बोलते बातें करते देखो।"**[पअ] समीक्षकों ने इस फिल्म को 'भड़कीली फैंटेसी' करार दिया था। 'अठहत्तर मुर्दा इंसान जिंदा हो गए' यह पंक्ति दर्शाती है कि फिल्म में अठहत्तर चेहरे थे ये फिल्म एक पारसी नाटक पर आधारित थी तथा उस समय के समाज में फैले अंधविश्वास को उजागर किया गया है। इस फिल्म का लेखन 'जोसफ डेविड' ने किया जिन्हें प्यार से जोसफ दादा भी कहा जाता था। पृथ्वीराज कपूर, जुबैदा, सुशीला जैसे कलाकारों ने भूमिका निभाई। इस फिल्म मे डब्ल्यू०एम० खान द्वारा गाया गया गीत 'दे दे खुदा के नाम पर' भारत के सिनेमाई जगत में रिकॉर्ड किया जाने वाला पहला गीत था। बोलती फिल्म को लोकप्रियता के कारण उसी समय लगभग 300 फिल्में और रिलीज हुई। तीस के दशक में फिल्मों के निर्माण में अचानक वृद्धि हुई।

सिनेमा ऐसी तकनीकी आधारित कला है जिसमें गीत–संगीत, नृत्य, कविता, कहानी, नाटक, फोटोग्राफी, संपादन, चित्रकला आदि सभी कलारूपों का समावेश होता है। इसके बावजूद सिनेमा की अपनी भाषा है। सभी कलाएँ मिलकर एक मुकम्मल प्रभाव पैदा करती है। अच्छे सिनेमा के लिए एक अदद अच्छी कहानी होना पहली प्राथमिकता है। वह सीधे फिल्म के लिए लिखी गई कहानी से भी पूरी हो सकती है और साहित्य से भी कहानी लाई जा सकती है। साहित्यिक कृति पर आधारित फिल्मों का दायरा काफी बढ़ रहा है। सत्यजीत राय की फिल्में इसका बड़ा उदाहरण है। साहित्य और सिनेमा एक–दूसरे के पूरक है। साहित्य और सिनेमा कहीं न कहीं हमेशा एक–दूसरे के पूरक रहे हैं। भारत में बनने वाली पहली फीचर फिल्म भी एक आधुनिक हिंदी साहित्य के जनक भारतेन्दु हरिश्चंद्र के नाटक 'हरिश्चन्द्र' से प्रेरित थी।

साहित्य समाज का दीपक है, साहित्य बुनियादी रूप से समाज से न बाहर होता, न ऊपर। साहित्य समाज को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित करता है। साहित्य के माध्यम से ही साहित्यकार समाज की समस्याओं, आवश्यकताओं, विसंगतियों, दबे हुए तबके के लोगों की भावनाओं में केवल बहता ही नहीं है बल्कि उसे जीता भी है और साहित्य के रूप में समाज में परोसता भी हैं।

साहित्य संस्कृत के 'सहित' शब्द से बना है। संस्कृत के विद्वानों के अनुसार– ''हितेन सह सहित तस्यभवः'' अर्थात् कल्याणकारी भाव कहा जा सकता है कि साहित्य लोक के कल्याण के लिए रचा–गढ़ा जाता है। साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन करना नही है बल्कि मार्गदर्शन करना भी है। मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में–

''केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए,
उसमें उचित उपदेश का मर्म भी होना चाहिए।''[अ]

प्रारम्भ में बोलती फिल्मों का शुरुआती दौर पारसी थियेटर की विरासत भर था, जिसमें अति नाटकीयता और गीत–संगीत का ज्यादा समावेश था। पहली बार हिंदी सिनेमा में स्थापित लेखक के रूप में कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद जी का प्रवेश हुआ। वर्ष 1933 में हिंदी के सर्वाधिक लोकप्रिय साहित्यकार प्रेमचंद की कहानी पर मोहन भावनानी के निर्देशन में फिल्म 'मिल मजदूर' बनी। कहानी में कुछ बदलाव किया गया जो कि प्रेमचंद को पसंद नहीं आया। 1934 में प्रेमचंद की ही कृतियों पर नवजीवन और सेवासदन बनीं लेकिन दोनों फिल्में फ्लॉप हो गई। फिल्म नगरी को लेकर उन्होंने एक पत्र में लिखा है कि– **''यह एक बिल्कुल नई दुनिया है। साहित्य से इसका बहुत कम सरोकार है। उन्हें तो रोमांच कथाएँ, सनसनीखेज तस्वीरें चाहिए अपनी ख्याति को खतरे में डाले बगैर मैं जितनी दूर तक डायरेक्टरों की इच्छा पूरी कर सकूँगा, उतनी दूर एक करूँगा . . . जिंदगी में समझौता करना ही पड़ता है। आदर्शवाद महंगी चीज़ है, बाज दफ़ा उसको दबाना पड़ता है।''**

साहित्यिक उपन्यासों पर बनी कुछ फिल्मों ने तो धमाल मचा दिया और कुछ ठण्डे बस्ते में चली गई। प्रेमचंद का 'गोदान' उपन्यास बहुत ही चर्चित उपन्यास है, पर जब हम फिल्म को देखते हैं तो फिल्म का स्तर उपन्यास से कहीं भिन्न दिखाई देता है। फणीश्वरनाथ रेणु की कहानी 'तीसरी कसम' और 'मारे गए गुलफाम' पर फिल्म बनी। इस फिल्म को हिंदी कहानी पर बनी एक श्रेष्ठ फिल्म मान सकता हूँ। इसके अलावा चंद्रप्रकाश द्विवेदी ने 'पिंजर' फिल्म का निर्माण किया जो अमृता प्रीतम के उपन्यास 'पिंजर' पर फिल्म आधारित थी, बहुत सामान्य स्तर की रही। साहित्यिक उपन्यासों पर फिल्मों का निर्माण अधिक न होना मुख्यतः निर्देशक उपन्यास के सार को अच्छी तरह आत्मसात् न कर पाना हो सकता है। कुछ निर्देशकों ने तो सरसरी तौर पर उपन्यासों को पढ़ा होगा। उपन्यास की आत्मा कॉमर्शियल इम्पैक्ट की वजह से मर जाती है इसलिए उस कृति के साथ पूरा न्याय नहीं हो पाता है, जो लोग साहित्यिक पृष्ठभूमि वाले होते हैं अगर वे किसी फिल्म की कहानी और संवाद लिखते हैं तो वह फिल्म बॉक्स ऑफिस पर हिट होने के साथ–साथ एक साहित्यिक कृति भी झलक देती है। जैसे– जगदंबा प्रसाद दीक्षित की फिल्म 'सर' जो कि व्यक्ति भी साहित्यिक थे और उन्होंने साहित्य भी अच्छा लिखा, फिल्में भी अच्छी लिखीं, जिन्हें बॉक्स ऑफिस की भी समझ थी साथ ही साथ फिल्म की रुपरेखा की भी समझ थी ऐसी ही शख्सियत है। कमलेश्वर जिन्होंने 'आँधी' जैसी फिल्म लिखी तो 'मौसम' और 'साजन बिन सुहागन' भी जब उपर्युक्त कॉम्बिनेशन मिलते हैं, तब अच्छी फिल्में दर्शकों के सामने आती है और जन समुदाय उनसे जुड़ जाता है।

हमारे साहित्य को समाज तक पहुँचाने का माध्यम ही चलचित्र है। हिंदी साहित्य पर आधारित हिंदी फिल्मों को लेकर जब भी कुछ लिखा गया तो यह बताया गया कि कहानी ने भी **''साहित्य की एक प्रमुख विधा के रूप में सिनेमा और साहित्य के संबंधों को उत्तरोत्तर विकसित एवं पोषित किया है। कहानी जैसी विधा को एक विशेष समय या घटना या विविध छोटे–छोटे प्रसंगों को इस माध्यम से प्रस्तुत करना अपने आप में एक दुरूह कार्य हो जाता है। कहानी में निर्देशक विभिन्न प्रसंगों को लेते हुए समय को बांधता है, सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओं, उत्कंठाओं को अभिव्यक्ति प्रदान है। आज हिंदी कहानियों पर आधारित अनेक फिल्में हैं जिन्हें राष्ट्रीय ही नहीं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी सराहा व पुरस्कृत किया गया है।''**[vi]

सिनेमा ने समाज के प्रत्येक बिंदुओं को अपनी तरफ आकर्षित किया है। चाहे वह हमारी संस्कृति हो, जीवन शैली हो, साहित्य हो, परंपरा हो और आर्थिक व्यवस्था को भी नए आयाम प्रदान किए हैं। सिनेमा और साहित्य दोनों अलग–अलग विधाएँ होते हुए भी दोनों का पारस्परिक संबंध बहुत गहरा है। **केशव प्रसाद मिश्र** के **'कोहबर की शर्त'** उपन्यास पर आधारित फिल्म 'नदिया के पार' (1982) जिसका निर्देशन गोविंद मूनिस ने किया। अमृता प्रीतम के 'पिंजर' उपन्यास पर आधारित 'गदर : एक प्रेमकथा' 2002 में आई जिसका निर्देशन अनिल शर्मा के द्वारा किया गया। इसी कड़ी में **कृष्ण चंदर** के **'पेशावर एक्सप्रेस'** उपन्यास पर **'वीर जारा'** (2004), **यशपाल** के **'झूठा सच'** उपन्यास पर **'खामोश पानी'** (2009), **कृष्णा सोबती** के **'जिंदगीनामा'** उपन्यास पर **'ट्रेन टू पाकिस्तान'**, **राजेन्द्र यादव** के **'सारा आकाश'** उपन्यास पर **'सारा**

आकाश' (1969) फिल्म बनी, उपन्यासों के साथ–साथ कहानियों पर भी फिल्म बन रही थी जिनमें **मन्नू भण्डारी** की कहानी **'यही सच है'** पर **'रजनीगंधा'** (1974) में, **मोहन राकेश** की कहानी **'मलबे का मालिक'** पर **'हिना'** (1991), **विजयदान दया** को **'दुविधा'** पर **'पहेली'** (2005), **कमलेश्वर 'तलाश'** कहानी पर **'फिर भी'** (1971), **फणीश्वरनाथ 'रेणु'** की **'मारे गए गुलफाम उर्फ तीसरी कसम'** पर **'तीसरी कसम'** (1966) फिल्म बनी।

निम्नलिखित कहानियों और उपन्याओं के माध्यम से सिनेमा और साहित्य के अंतर्संबंध को हम देख सकते हैं। इक्कीसवीं सदी तक आते–आते हिंदी सिनेमा में एक ऐसी प्रवृत्ति उभरी कि वह प्रयोग करते नए–नए प्रयोग करने लगा है। उसकी यह प्रयोगात्मकता कथ्य और शिल्प दोनों स्तरों पर फलीभूत हुई है। ऐसी ही एक फिल्म 1974 में 'रजनीगंधा' सिनेमा जगत् में एक ऐसा युवक है जिसे रोज नई–नई समस्याओं से जूझना पड़ता है। उसमें कोई चमत्कारिक शक्ति नहीं है कि वह दस–दस गुंडों का सामना कर सके। प्रेम का बहुत ही उम्दा और मार्मिक चित्रण किया गया है, जिस महानगरीय सभ्यता का प्रभाव मनुष्य पर हो रहा है कि उसके चलते जीवन के तौर–तरीके भी बदल गए हैं। प्रेम के मायने बदले हैं वह कोरी भावुकता और जन्म–जन्मांतर एक साथ निभाने की कसमों के सहारे जिंदगी काट देना स्वीकार्य नहीं करते हैं। दूसरी सफल फिल्म 'तीसरी कसम' 1966 में वासु भट्टाचार्य ने निर्मित की, जो कि रेणु की कहानी **'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम'** पर आधारित है– **''फिल्म 'तीसरी कसम' राजकपूर और वहीदा रहमान की ये फणीश्वरनाथ 'रेणु' की कहानी 'मारे गए गुलफाम' पर आधारित है। इसे शैलेन्द्र ने प्रोड्यूस किया और बासु भट्टाचार्य ने निर्देशित, जिसकी पटकथा और संवाद खुद रेणु ने लिखे मित्रता के नाते राजकपूर व वहीदा रहमान जैसे सितारों ने फिल्म में काम किया।''**[vii]

ये फिल्म परंपरागत रूप से भारत की देहाती दुनिया और वहाँ के लोगों की सादगी को बखूबी रूप से चित्रित करती है। हीराबाई का नौटंकी में नाचना जीवन की मजबूरी है, जीविका का साधन है। अपनी–अपनी प्राथमिकताओं और गरीबी के कारण प्रेम एक मुहाने पर आकर रुक जाता है। भारत के ग्रामीण समाज को समझने के लिए 'तीसरी कसम' फिल्म 'मील का पत्थर' साबित हुई है। 1967 में 'राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार' भी इस फिल्म को दिया गया।

सिनेमा के जन्म से ही उसे किसी रूप की आवश्यकता थी जो साहित्य के द्वारा पूरी हो रही है। कुछ सिनेमाओं के लिए साहित्य लेखन भी हुआ है, हिंदी के उपन्यास 'सारा आकाश' पर फिल्म बनी है। **''साहित्य पढ़ते समय हम सिर्फ मनोरंजन की उम्मीद नहीं रखते हैं पर सिनेमा देखते समय हम मनोरंजन की एक बड़ी उम्मीद देखते हैं। सिनेमा में मनोरंजन की प्राथमिकता है– सिनेमा की पहली मांग है मनोरंजन।''**[अपपप]

इसी कारणवश साहित्य में कुछ परिवर्तन करके फिल्म के माध्यम से जनसामान्य तक पहुँचाया जा सकता है। 'सारा आकाश' उपन्यास का फिल्मी रूपांतरण निर्देशक बासु चटर्जी ने किया है उन्होंने उसकी मूल संवेदना और अस्तित्व को नष्ट नहीं होने दिया है। बासु चटर्जी चाहते थे कि **"चूँकि यह कृति राजेन्द्र यादव की है, इसलिए यदि पटकथा भी वही लिखे तो श्रेष्ठ होगा।"**[ix] इस फिल्म में दिखाया गया कि महिलाएं समाज में सिर्फ पुरुषों के द्वारा ही शोषित नहीं होती अपितु महिलाओं के द्वारा भी होती हैं। अहंभाव दाम्पत्य जीवन को नर्क बना देता है। उन्हें आपस में प्रेम और समझदारी के साथ रहना चाहिए। इसी कड़ी में एक और फिल्म हैं। नदिया के पार जो कि कि केशव प्रसाद मिश्र द्वारा रचित उपन्यास 'कोहबर की शर्त' पर आधारित है। यह फिल्म उत्तर प्रदेश और बिहार क्षेत्र की स्थानीय भाषा अवधी और भोजपुरी बोलियों का मिश्रित रूप माना जा सकता है। ग्रामीण सभ्यता और संस्कृति का एक संदेश दे रही, ये फिल्म सहज स्वभाव से युक्त तथा ग्रामीण जीवन शैली में किस तरह का पहले सच्चा प्रेम होता था जिसमें निरा अल्हड़पन मौजूद है। दाम्पत्य जीवन को ओंमकार और रूपा के द्वारा पति–पत्नी की गाड़ी के दो पहियों के रूप में बताया गया है। वैध जी के द्वारा रूपा के विवाह के लिए दहेज की बात करना, उस पर तिवारी का जवाब **"जो प्रथा समाज को डुबोए दे रही हो उसे तो हम दूर से ही नमस्कार करते हैं।"** इस तरफ इशारा करती है कि उस समय ग्रामीण और भारतीय संस्कृति में दहेज लेने को गलत मानते थे। परंपरागत दहेज प्रथा का इस फिल्म के माध्यम से दहेज व्यवस्था को समाज के लिए नासूर बताया गया है। त्रिलोक जेटली की फिल्म 'गोदान' कृषक जीवन की विड़म्बना पर आधारित फिल्म है, जो कि 1963 में रिलीज हुई थी। गोदान में ग्रामीण पात्र जीवन्त पात्र हैं। प्रत्येक का वैशिष्ट्य स्वभाव, सनक आचरण व्यवहार करना भिन्न है कि भीड़ में भी पहचाना जा सकता है। गोदान के ग्रामीण पात्र– होरी, धनिया, गोबर, सिलिया, मातादीन है। प्रगाढ़ता तथा भावात्मक प्रदान करने के लिए प्रेमचन्द अपने पात्रों को तन्हाई के पल देते हैं। यह तन्हाई उनके आन्तरिक व्यक्तित्व को अवचेतन को, विचार–प्रक्रिया को उद्घाटित करती है।

गोदान फिल्म से ट्रेजडी का एक नया आयाम प्राप्त होता है। इसका नायक साधारण किसान है। होरी की प्रबुद्ध सामाजिकता, समाज और धर्म की रुढ़ियों–रीतियों के पालन की उत्कृष्ट इच्छा, कुल को मर्यादा की रक्षा भावना, व्यावहारिकता की सीमा का अतिक्रमण करके शक्ति नहीं बल्कि दुर्बलता बन जाती है।

गोदान में धनिया के रूप में एक ऐसे नारी पात्र की परिकल्पना की है जो अपनी दृढ़संकल्पना और साहस से समाज को हिला देती है। धनिया हर गलत कार्य का विरोध करती है, धनिया का वक्तव्य धर्म के ठेकेदारों के सम्मुख अपनी सम्पदा का तथ्यात्मक हल्फनामा है। होरी की मजदूरी क्रिया–कर्म पर लग जाएगी और धनिया की मजदूरी का गोदान हो गया है।

उपन्यासकार ने तो अदृश्य बिंबों का सृजन किया जबकि सिनेमा तो पूर्णतः दृश्य माध्यम है, इसलिए साहित्य को केन्द्र में रखकर बनी फिल्में साहित्य से सिनेमा में सीधे–सीधे रूपांतरण होती है। **"कहा जाता है कि**

जिस देश का जैसा साहित्य होगा वैसा वहाँ का समाज होगा। आज के परिदृश्य में कह सकते हैं कि जिस देश का सिनेमा जैसा होगा वैसा वहाँ का समाज होगा।"[x]

उक्त सभी फिल्मों और उपन्यासों का अवलोकन करने के पश्चात् निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि जहाँ सिनेमा साहित्य को प्रभावित करता है, वहीं साहित्य भी सिनेमा को प्रभावित करने से अछूता नहीं रह सकता। जिस प्रकार साहित्य और समाज एक–दूसरे के पूरक हैं, उसी प्रकार साहित्य और सिनेमा भी एक सिक्के के दो पहलू है। फिल्म निर्माता या निर्देशक साहित्य से श्रेष्ठ कहानियों उठाकर उसमें कल्पना का मिश्रण करते हुए कथा को अपने अनुकूल मोड़ देते हुए उसमें रोचकता के गुण समाहित करते हुए उसके गुण–दोषों से समाज को रू–ब–रू कराने का भरसक प्रयास करता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

i- (सं०) प्रहलाद अग्रवाल, वसुधा–81, पृ०सं० 469

ii- राजेश कुमार, हिंदी सिनेमा : एक अध्ययन, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ०सं० 28

iii- वही, पृ०सं० 28

iv- प्रदीप तिवारी, जब सिनेमा ने बोलना सीखा, एन०सी०ई०आर०टी०, पृ०सं० 62

v- मैथिलीशरण गुप्त, भारत–भारती (भविष्यत् खण्ड)

vi- हरीश कुमार, सिनेमा और साहित्य, संजय प्रकाशन 1998, पृ०सं० 84

vii- श्रीशचंद्र मिश्र, हिंदी साहित्य का फिल्मों से जुड़ा नहीं गहरा नाता, जनसत्ता, 9 जून 2017

viii- (सं०) राजेन्द्र यादव, हंस फरवरी 2013, पृ०सं० 118

ix- डॉ० डाली लाल, समकालीन हिंदी उपन्यास, पृ०सं० 290

x- (सं०) डॉ० शैलजा भारद्वाज, साहित्य और सिनेमा : बदलते परिदृश्य में संभावनाएँ और चुनौतियाँ, भूमिका से